

लगभग सौ वर्ष पहले प्रेमचंद ने भारत के शिक्षक की दशा का वर्णन करते हुए अफसोस जताया था। प्रेमचंद की शिकायत थी कि मुआयने पर भारी खर्च किया जाता है और मुदर्रिस भूखा रह जाता है। बीसवीं शताब्दी के शुरू में जब प्रेमचंद स्वयं मुआयना करने वाले कनिष्ठ अधिकारी (डिप्टी सब-इंस्पेक्टर) थे, सरकारी शिक्षक का पेशा नए सिरे से गठित हुए बहुत कम समय बीता था। बंगाल में पुरानी किस्म की ग्रामीण पाठशालाओं के गुरु थोड़ी-सी संख्या में रह गए थे। उन्हें नए पाठ्यक्रम और नए विधिविज्ञान का प्रशिक्षण दिया गया था, पर वे नई व्यवस्था में बेगाना महसूस करते थे। नए, युवतर शिक्षक सरकारी मिजाज लेकर पेशे में प्रवेश कर रहे थे। उनके लिए गांव का समाज उस तरह से समुदाय नहीं था जैसा पुराने गुरुओं के लिए होता था। गांव स्वयं भी बदल रहा था। उसे शहर से जोड़ने वाले साधन और वाहन एक नए जमाने का आह्वान कर रहे थे। इस नए युग में अभी गांधी की प्रेरक पस्थिति एक दशक दूर थी।

प्रेमचंद की टिप्पणी इस व्यापक संदर्भ में पढ़ी जाए तो लगता है कि आज की परिस्थिति बहुत अलग नहीं है, भले ही कई चीजें अलग तरह से हो रही हैं। एक नई परिस्थिति और पाठ्यचर्या शिक्षक से अपने विधिविज्ञान में बदलाव की मांग कर रही है। सरकार का जोर इस बात पर है कि शिक्षक को नई विधियां सिखाई जाएं। वह नई तरह से पढ़ा रहा है या नहीं, यह जानने

के लिए मुआयने की मशीनरी में बदलाव किया गया है। अध्यापक स्वयं मुआयने में शरीक है, फिर भी वह अधिकारी से डरता है। उसे डराने-दबाने वाली नई ताकतें पनपी हैं, पैसे का नया तंत्र उभरा है। शिक्षक का वास्ता एक तरफ राजनीति के स्थानीय स्तर पर पंचायत से पड़ा है, दूसरी तरफ गैर-सरकारी संगठनों से, जिनके कार्यकर्ता और अधिकारी शिक्षक से कई गुना ज्यादा मेहनताना पाते हैं। सरकार जैसे परदे में छिप गई है और शालीनता से एक नए भविष्यदर्शी कानून को लागू करने में लगी हैं। सरकार मानती है कि इस कानून का अमल शिक्षक के हाथों में है, पर शिक्षक की क्षमताओं को लेकर वह आश्वस्त नहीं है, न ही उसकी परिस्थिति से बहुत परिचित प्रतीत होती है।

इस परिदृश्य में विविधता की कमी नहीं है। जहां तमिलनाडु या केरल में हर शिक्षक स्थाई और पूर्ण वेतन भोगी है, वहां मध्यप्रदेश में वेतन की पुनर्रचना पिछले बीस वर्षों के घुमावदार इतिहास में इतनी चतुरता से हुई है कि अब स्वयं शिक्षकों को यह सामूहिक संज्ञान नहीं है कि उनकी सामाजिक और आर्थिक हैसियत अनिवारणीय रूप से घट चुकी है। मध्यप्रदेश अभी तक ऐसा अकेला राज्य था जिसने पुराने (यानी अस्सी के दशक तक सभी शिक्षकों पर लागू होने वाली) वेतनमानों को पूर्णतः समाप्त कर देने का निर्णय लिया था, अब बिहार भी उसके साथ आ खड़ा हुआ है और उसी दिशा में बढ़ रहा है। इस घटनाचक्र को इस विशेषांक में 'देखते-देखते' शीर्षक खंड में चित्रित और चिह्नित करने की कोशिश की गई है। इस खंड का संबंध हालिया इतिहास से है जो पीछे मुड़कर देखने पर आश्चर्य, निराशा और आक्रोश जैसे मिले-जुले भाव जगाता है। नब्बे के दशक में आर्थिक उदारीकरण के साथ शिक्षा के क्षेत्र में कई ऐसी प्रवृत्तियां उभरीं जिन्हें 1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति के साथ जोड़कर देखना मुश्किल है। पिछले बीस वर्षों में स्कूली शिक्षा का विस्तार हुआ, पाठ्यचर्या में सुधार की कोशिशें हुईं, समाज में बच्चों की शिक्षा और स्थिति को लेकर जागृति के लक्षण उभरे, पर इन सबके साथ-साथ अध्यापक के पेशे में अन्तर्विरोधी स्थितियां पैदा हुईं। छठे वेतन आयोग ने नए वेतनमान दिए, पर इस आयोग के लागू होने से बहुत पहले बड़ी संख्या में अनेक राज्यों में शिक्षा-मित्र, गुरुजी, आदि नामों से एक प्रकार का अर्ध-शिक्षक बल खड़ा किया जा चुका था। दुर्भाग्य कहें या संयोग कहें या नीति कहें, यह तैनाती उन्हीं राज्यों में सबसे ज्यादा हुई जहां शिक्षा के प्रसार की समस्याएं सबसे गंभीर रही हैं। चूंकि ये ज्यादातर हिन्दी भाषी राज्य हैं, अतः शैक्षिक विमर्श के इस विशेषांक के लिए यह विषय विशेष महत्त्व रखता है। प्रश्न अब प्रसार का नहीं, व्यवस्था के चरित्र का है। जिसे आज अनुवाद की भाषा में गुणवत्ता कहा जाता है, वह दरअसल शिक्षा का चरित्र है जिसके साथ अर्ध-शिक्षक बल जैसी व्यवस्था की स्थापना एक अदूरदर्शी खिलवाड़ है। उत्तर प्रदेश में कक्षा एक और दो अब नियमतः शिक्षा-मित्रों को ही दी जाती है और स्थाई शिक्षक तीसरी के बाद की कक्षाएं पढ़ाते हैं। दूसरी तरफ उत्तर प्रदेश अगले सत्र से राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा : 2005 पर आधारित एन.सी.ई.आर.टी. की पाठ्यपुस्तकें लागू करने जा रहा है। राज्य के नीतिकार राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की इस बात से अपरिचित या शायद असहमत हैं कि पहली दो कक्षाएं नींव का काम करती हैं, अतः उनकी जिम्मेदारी सबसे अनुभवी शिक्षकों को दी जानी चाहिए।

ऐसी अन्तर्विरोधी स्थितियों के बीच शिक्षक की जिन्दगी की कई तस्वीरें इस अंक में पाठकों को मिलेंगी। कुछ तस्वीरें लाचारी की हैं, कुछ साहस की। किसी शिक्षक का जीवन पूर्ण हो

जाने के बाद उसकी पेशेवर प्रतिभा को याद करने का चलन हमारी व्यवस्था में नहीं है। इस अंक में 'अविस्मरणीय' शीर्षक खंड में ऐसी एक शुरुआत करने का प्रयास किया गया है। संस्मरण किसी अध्यापक की अपनी कलम से लिखा गया हो या किसी अन्य ने लिखा हो, वह शिक्षक का वजूद दर्शाता और बनाता है। आज जब बहसों प्रायः बहुत बड़ी संख्याओं को समेटकर चलती हैं तो अनिवार्यतः अध्यापक के चेहरे और वजूद को भुला या दबा देती हैं। वैसे भी, अनुवाद के रास्ते बाढ़ की तरह फैलती हुई प्रबन्ध विज्ञान की अटपटी शब्दावली हमारा ध्यान अध्यापक के व्यक्तित्व से हटाती है। शिक्षा मूलतः एक संबंधवाची विचार और प्रेमनिर्भर कर्म है। इस क्षेत्र में यदि आज बच्चे के व्यक्तित्व और वजूद पर ध्यान देने की बात हो रही है तो यह बात शिक्षक के वजूद को स्वीकारे और सराहे बगैर बहुत आगे नहीं बढ़ सकती।

तो फिर सवाल उठता है कि सामाजिक और आर्थिक हैसियत की दृष्टि से ठोकर खाता हुआ यह पेशा क्या मात्र प्रशिक्षण के जरिए अपनी आत्मा को बचा सकता है? सवाल के भीतर यह गुंजाइश है कि हम प्रशिक्षण संस्थाओं की दशा और क्षमता पर विचार करें। यदि उन्हें वह नया शिक्षक बनाना है जो जातिप्रथा और पितृसत्ता से अपने को मुक्त रखकर स्कूल में समता और स्नेह पर आधारित लोकतंत्र चलाएगा, तो इन प्रशिक्षण संस्थाओं को स्वयं बहुत सुधरना और बदलना होगा। इस संभावना के प्रति निराशा की दृष्टि से देखने वाला एक महत्त्वपूर्ण लेख इस विशेषांक के लिए शिवरतन थानवी ने लिखा है। इसे प्रकाशित करते हुए हमें आशा है कि प्रशिक्षण की वर्तमान दारुण दशा पर बहस आगे बढ़ेगी। नौकरी कर रहे शिक्षकों के सतत प्रशिक्षण की दशा भी बेहतर नहीं है। प्रशिक्षण का पूरा संदर्भ जैसे एक रोगी की तरह हमारे सामने पूरे देश में लेटा है। उसके रोग की पहचान और दवाओं व पोषक भोजन का इंतजाम जल्दी किया जाना जरूरी है। एक तरफ नए कानून का कागज लिए करोड़ों बच्चे शिक्षा का हक मांगने निकले हैं, दूसरी तरफ उनके अधिकार को यथार्थ बनाने वाला व्यक्ति स्वयं संघर्षरत है। यह अंक उसके संघर्ष को समर्पित है।



कृष्ण कुमार
(केन्द्रीय शिक्षा संस्थान, दिल्ली विश्वविद्यालय)